1892 का भारतीय परिषद अधिनियम

1861 का भारतीय परिषद अधिनियम लगभग 30 वर्षों तक भारत में ब्रिटिश शासन का आधार बनी रही परंतु इस दौरान इसमें कई व्यवहारिक दोष उजागर हुये। इन्हीं दोषों को दूर करने के लिये ब्रिटिश संसद ने 1892 ई० में भारतीय परिषद् अधिनियम पारित किया जो वस्तुतः 1861 के अधिनियम का विस्तार मात्र था।

इस अधिनियम को पारित कराने में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की महती भूमिका रही है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीयों द्वारा प्रतिनिधि संस्थाओं की मांग बढ़ी तेज हो गई थी। इस क्षेत्र में सबसे पहले मद्रास महाजन सभा ने देश को नेतृत्व प्रदान किया जिसने दिसम्बर 1885 ई० में प्रतिनिधि संस्थाओं की मांग की। इसने सरकार से प्रार्थना की कि विधान परिषदों का चयन एक निर्वाचक मंडल (Electorate) के द्वारा होना चाहिए जिसमें स्थानीय निकायों, विश्वविद्यालयों, वाणिज्य संघ (Chamber of Commerce) के सदस्य शामिल हो। इंडियन नेशनल कांग्रेस ने भी इससे सहमति जतायी। कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के अध्यक्ष व्योमेश चन्द्र बनर्जी ने यह मांग की कि विधान परिषदों में चुने हुये सदस्य शामिल किये जाये, बजट को उनके बहस के लिये रखा जाये और सदस्यों को प्रश्न पूछने का अधिकार दिया जाये। आगे एक अन्य प्रस्ताव में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार से प्रार्थना की कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय परिषदों में काफी संख्या में निर्वाचित सदस्य लेकर उसका विस्तार किया जाये। उत्तर पश्चिमी प्रांत, पंजाब में भी बंगाल एवं मद्रास प्रान्त जैसा विधान परिषद गठित की जाये। बजट पर परिषदों को

राय ली जाये और इसपर प्रश्न पूछने का अधिकार दिये जाए। इतना ही नहीं कॉमन सभा में एक स्थायी समिति गठित करने की मांग की गई जो भारतीय कार्यपालिका के निर्णयों के विरुद्ध उन अपीलों को सुने जहाँ यह विधान सभाओं के निर्णयों का अतिक्रमण करें। कांग्रेस इन मांगों को लगातार अपने अधिवेशनों में उठाकर ब्रिटिश सरकार पर संवैधानिक सुधारों के लिये दबाव बनाती रही।

भारतीयों के साथ-साथ अंग्रेज पृशासकों ने भी विधान परिषद के स्वरूप एवं उसके अधिकारों में विस्तार की मांग गृह सरकार से की। यद्यपि इसके पीछे उनकी मंशा कांग्रेस की इन मांगों के प्रति सहानुभूति नहीं बल्कि अपनी शक्ति बढ़ाना था। तत्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन विधान परिषदों के विस्तार के द्वारा गृह सरकार के विरुद्ध भारत सरकार की शक्ति को बढ़ाना चाहता था क्योंकि वह भारत सचिव के बहुत अधिक नियंत्रण से तंग था। इसलिए उसने 1888 ई. में एक कमेटी बनाई जो भारत में किये जाने वाले सुधारों के बारे में सुझाव दे। कमेटी के रिपोर्ट के आधार पर लार्ड डफरिन ने गृह सरकार को सुझाव भेजा कि ब्रिटिश सरकार अपनी किसी तरह की जिम्मेवारियों को कम किये बिना भारतीयों को शासन में अधिक भागीदारी दे। विधान परिषद को कार्यकारिणी परिषद (Executive Council) से प्रश्न पूछने का अधिकार दिया जाये परंतु इसके साथ वायसराय को वीटो भी दिया जाये। प्रान्तों की विधान सभाओं का विस्तार किया जाये, उनमें कुछ चुने हुये सदस्य शामिल किये जाये परंतु संसदीय सरकार शुरू न की जाये।

इन सुझावों को आधार बनाकर तत्-

कालीन भारत सचिव लॉर्ड क्रास ने एक प्रस्ताव तैयार कर ब्रिटिश सरकार के पास भेज दिया। इंगलैंड की रूढ़िवादी दल की सरकार ने 1890 ई में लार्ड सभा में एक विधेयक रखा जो संवैधानिक प्रक्रियाओं से गुजरते हुये 1892 में भारतीय परिषद अधिनियम के रूप में पारित हुआ।

इस अधिनियम की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित थी —

(i) केन्द्रीय विधान मंडल के विषय में यह निश्चय हुआ कि अतिरिक्त सदस्यों की संख्या कम से कम 10 हो तथा अधिक से अधिक 16 हो परंतु इसमें सपरिषद राज्य सचिव की आज्ञा लेनी आवश्यक होगी और उन्हें ही इन अतिरिक्त सदस्यों के मनोनयन हेतु नियम निर्धारित करने होंगे।

(ii) इस अधिनियम में यह भी सुझाव था कि इस परिषद में कम से 50% गैर सरकारी सदस्य होने चाहिए। केन्द्रीय विधान मंडल में पाँच गैर सरकारी सदस्य निर्वाचित होते थे जिन्हें चार प्रांत के प्रान्तीय विधानमंडलों के गैर सरकारी सदस्य तथा एक को कलकत्ता के वाणिज्य मंडल के सदस्य निर्वाचित करते थे। अन्य पाँच गैर सरकारी सदस्य गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत होते थे।

(iii) विधानमंडल के सदस्यों के अधिकार भी दो क्षेत्रों में बढ़ा दिये गये। प्रथम बजट पर उन्हें अपने विचार प्रकट करने का अधिकार दिया गया, यद्यपि इस विषय पर कोई प्रस्ताव रखने अथवा सदन में मत विभाजन कराने का अधिकार उन्हें नहीं था। दूसरे उन्हें सार्वजनिक हित के मामलों में 6 दिन की सूचना देकर प्रश्न पूछने का भी अधिकार दिया गया।

(iv) प्रान्तीय विधानमंडलों में इस अधिनियम द्वारा न्यूनतम 8 और अधिकतम 20 अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। परंतु

P.3

उत्तर पश्चिमी प्रान्त में अधिकतम संख्या 15 थी निश्चित की गई। प्रान्तीय मंडलों में भी कार्यकारी परिषद से प्रश्न पूछने की अनुमति दी गई परंतु इसके लिए 6 दिन पूर्व सूचना देनी होती थी।

(v) प्रान्तीय विधानमंडलों के कुछ सदस्यों को नगर पालिकाएँ, जिला बोर्ड, विश्वविद्यालय तथा वाणिज्य मंडल निर्वाचित करते थे। परंतु निर्वाचन की पद्धति अप्रत्यक्ष थी और इन निर्वाचित सदस्यों को मनोनीत (nominated) की संज्ञा दी जाती थी।

अधिनियम के उपरोक्त उपबन्धों पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि यह अधिनियम भारतीय जनभावनाओं के अनुरूप नहीं था। कारण इन परिषदों में चुने हुये सदस्य बहुत थोड़े थे और वे भी अप्रत्यक्ष चुनाव द्वारा लिये जाते थे इसलिये वे जनता के वास्तविक प्रतिनिधि नहीं थे। सरकारी अधिकारियों का इन परिषदों में बहुमत था इसलिये सरकार चुने हुये सदस्यों की कोई विशेष परवाह नहीं करती थी और सरकारी अधिकारियों की सहायता से अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कर सकती थी। विधान परिषदों के अधिकार अत्यंत सीमित थे। विधान परिषद का प्रधान बिना किसी कारण के किसी भी प्रश्न का उत्तर देने से मना कर सकता था। सदस्यों को पूरक प्रश्न (supplementary questions) पूछने का अधिकार नहीं था। वे बजट में कोई कटौती नहीं कर सकते थे, केवल अपने सुझाव दे सकते थे। इस तरह भारतीयों को इस अधिनियम से कोई विशेष अधिकार नहीं दिये गये। यही कारण था कि उन्होंने इन सुधारों को अपर्याप्त तथा असंतोषजनक बताया और स्वशासन की मांग प्रारंभ कर दी।

अंग्रेजों का भी मानना था कि परिषदों को जो नई शक्तियां दी गई है वे पर्याप्त नहीं है। भारत सरकार ने स्वयं भारत सचिव को 1908 ई में लिखे गये अपने एक पत्र में विशेष रूप से कहा कि परिषदों में सीमित बहस की सुविधायें दी गई थी अतएव यह निरर्थक श्रम एवं अवांछित थी। वार्षिक वित्त विवरण पर बहस की छूट थी परंतु सदस्य कोई प्रस्ताव पेश नहीं कर सकते थे और न ही वे मतदान की मांग कर सकते थे। इस उपबन्ध का के परिणामों का आकलन प. मदन मोहन मालवीय ने बड़े अच्छे ढंग से किया है। इनका मानना था कि यद्यपि इस अधिनियम ने प्रशासन में भारतीयों को कोई हिस्सेदारी नहीं दी परंतु उन्हें यह पता चला कि देश का प्रशासन उनके हित में नहीं चलाया जा रहा बल्कि यह व्यर्थ की फिजूल खर्ची है। भारतीयों ने यह भी महसूस किया कि करों का बोझ इससे कहीं अधिक था जितना कि अच्छे प्रशासन के लिये आवश्यक था। सरकार का सैनिक खर्च देश के सहन करने की क्षमता से अधिक था और भारतीय राजस्व का बहुत अधिक भाग ब्रिटिश साम्राज्य के हितों के लिये खर्च किया जा रहा था। यह सब बजट पर होने वाले बहस से पता चलता।

भारत सचिव का नियंत्रण भारत सरकार पर कम नहीं किया गया जैसाकि लगभग सभी पूर्व/तत्कालीन वायसराय चाहते थे। इस विषय में अपने एक पत्र में भारत सचिव ने स्वयं कहा कि भारत सरकार इंग्लैंड के अधीन एक सरकार है इसलिए उसे सारे कानूनों को मानना पड़ेगा जो यूरोपियन सरकार ने बनाये है। केन्द्रीय विधान परिषद में जो भी गैर सरकारी विधेयक प्रस्तुत किये जाते थे उनके लिए पहले भारत सचिव की स्वीकृति लेनी पड़ती थी। यानि इस अधिनियम द्वारा कई अवरोध खड़े किये गये।

यह सही है कि 1892 के अधिनियम ने बुनियादी रूप से 1861 के परिषद अधिनियम को नहीं बदला गया परन्तु फिर भी यह महत्वपूर्ण था क्योंकि अन्ततः इसने भविष्य में होने वाले सुधारों

के लिये मार्ग तैयार किया। 1892 का अधिनियम 1861 के अधिनियम से कई बातों में अग्रगामी था क्योंकि इसने परिषदों में निर्वाचन का सिद्धांत जारी किया, प्रश्न पूछने का और बजट पर सीमित रूप से बहस करने की आज्ञा दे दी। यद्यपि गैर सरकारी सदस्य थोड़ी संख्या में थे और वे अपनी सीमित शक्तियों के बारे में सचेत थे परंतु फिर भी उनको अपने विचार व्यक्त करने, सरकार की आलोचना करने और अपनी शिकायतों को दूर कराने का अवसर प्राप्त हो गया।

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि 1892 का अधिनियम यद्यपि कांग्रेस की मांगों से बहुत कम था फिर भी संसदीय उत्तरदायी सरकार की स्थापना की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था।

-o-